समाजविज्ञान का शिक्षण शास्त्र

❑ राघवेन्द्र प्रपन्न

इस आलेख में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित कक्षा 6 से 10 तक की समाज विज्ञान की पुस्तकों के कुछ चयनित अंशों का विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण के आधार पर लेखक ने टिप्पणी की है कि इन पुस्तकों में रचयिताओं द्वारा सामान्य ज्ञानशास्त्रीय व शिक्षणशास्त्रीय आधाारों की उपेक्षा की है। पाठ्यपुस्तकों में दी गई सूचनाएं एवं परिघटनाएं पूरी तरह ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक एवं वैचारिक संदर्भों से कटी हुई हैं जिसमें समय एवं स्थान की पृष्ठभूमि बिल्कुल नदारद है। दूसरे शब्दों में कहें तो ये पुस्तकें संदर्भहीन, विचारहीन एवं अर्थहीन सूचनाओं के जरिये पहले से ही बस्ते के बोझ तले दबे विद्यार्थियों पर और अधिक मनोभौतिक बोझ बढ़ाने वाली हैं।

शिक्षा का पिछले कुछ वर्षों का इतिहास इस बात का पुख्ता सबूत दे रहा है कि शिक्षा के अपने जगत के सिकुड़ने की दर बढती जा रही है। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि शिक्षा स्कूली पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों पर लगभग ढाई वर्षों से चले आ रहे विवादों, विरोधों तथा सहमतियों-असहमतियों को अपनी ही परिधि के अन्दर समेटने, जूझने तथा उसका निराकरण करने में असफल रही है। परिणाम यह हुआ कि यह पूरा मुद्दा शिक्षा के अपने जगत से निकलकर न्यायालय में पहुंच गया। इस बीच स्कूली पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों का विमर्श दुर्भाग्य से राजनैतिक विचारधाराओं के बीच बांटकर भटका दिया गया। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा निर्मित नई पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकों के जरिए स्कूली शिक्षा में लाए जाने वाले परिवर्तन पर इस लिहाज से तो विचार हुआ कि स्कूली ज्ञान के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न विषयों के साथ पेशेवर बर्ताव किया जा रहा है अथवा नहीं। विभिन्न विषयों के अन्तर्गत परोसे जाने वाले तथ्य एवं उनका विश्लेषण संबंधित अनुशासन की प्रकृति के अनुरूप है या नहीं। पर इस मामले की शिक्षणशास्त्रीय एवं ज्ञानशास्त्रीय विवेचना उपेक्षित रही । चूंकि यह पूरा मामला अलग-अलग दायरे तक सीमित न होकर स्कूली ज्ञानशास्त्र एवं शिक्षणशास्त्र से पूरी तरह जुड़ा हुआ है इसलिए बच्चों को केन्द्र में रखकर इसकी शिक्षणशास्त्रीय एवं ज्ञानशास्त्रीय विवेचना का न होना एक गैरजिम्मेदाराना उपक्रम माना जा सकता है। इसी हौच-पौच एवं उहा-पोह की स्थिति में समाजविज्ञान की नई स्कूली पाठ्यपुस्तकें भी आ गईं। समाजविज्ञान की नई पाठ्यपुस्तकों पर एक नजर दौड़ाने पर यह साफ हो जाता है कि ये पुस्तकें समाजविज्ञान सहित शिक्षण शास्त्र के स्थापित सिद्धांतों की भारी अवहेलना करके लिखी गई हैं । पाठ्यपुस्तकों में दी गई सूचनाएं एवं परिघटनाएं पूरी तरह ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक एवं वैचारिक संदर्भों से कटी हुई हैं जिसमें समय एवं स्थान की पृष्ठभूमि बिल्कुल नदारद है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह पुस्तकें संदर्भहीन, विचारहीन एवं अर्थहीन सूचनाओं के जरिए पहले से ही बस्ते के बोझ तले दबे विद्यार्थियों पर और अधिक मनोभौतिक बोझ बढ़ाने वाली हैं ।

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा तैयार की गई समाजविज्ञान की नई किताब में 'प्रमुख धर्म' नामक एक अध्याय (कक्षा 6, अध्याय 17) है। इस अध्याय में हिन्दूइज्म, जैनिज्म, बुद्धिज्म, जुडेइज्म, जोरोआस्ट्रीनिज्म और क्रिस्टीयनिटी पर चर्चा की गई है। पाठ की रचना कुछ इस प्रकार की गई है कि विद्यार्थी यह जान ही नहीं सकेंगे कि विभिन्न धर्म किन सामाजिक-आर्थिक एवं वैचारिक पृष्ठभूमि में पनपे। उनकी टकराहट उस समय के स्थाापित धर्मो व विचारों के किस आयाम से हुई। इन विविध धर्मों से समाज के किन पक्षों को चुनौती मिली। इस टकराहट एवं चुनौती ने समाज की वैचारिक, धार्मिक एवं नैतिकता मूलक विकास यात्रा में क्या भूमिका निभाई, विभिन्न धर्मों में आपसी संवाद की क्या स्थिति थी, उन्होंने एक दूसरे पर क्या प्रभाव छोड़ा, इसकी ओर दृष्टि नहीं डाली गई । प्रमुख धर्मों पर दिया गया यह अध्याय (अध्याय 17) अचानक से शुरू हो जाता है। पाठ का पहला शब्द ही है - 'हिन्दूज्म' जो कि एक उपशीर्षक के रूप में है। पहला वाक्य कुछ इस तरह से शुरू होता है, ''हिन्दूइज्म एक बहुत पुराना धर्म है' (पेज 23)। इस पहले वाक्य के पहले बतौर भूमिका धर्मों का सामान्य परिचय करवाने वाला एक भी शब्द नहीं है। न ही उस समय के समाज-इतिहास के बारे में कोई जिक्र है। ध्यातव्य है कि इस वाक्य के साथ विभिन्न धर्मो के उद्‌भव के काल का कोई जिक्र नहीं है। इस तरह से

अध्याय अपनी शुरूआत ही शिक्षणशास्त्र के कई बुनियादी मूल्यों की अवहेलना से करता है। पहली अवहेलना तो यह कि पाठ अपने विद्यार्थियों से न तो छोटी-सी आकांक्षा रखता है और न ही यह न्यूनतम विश्वास कि विद्यार्थी विभिन्न धर्मों के कालक्रम को जानकर स्वयमेव धर्मों की परस्पर प्राचीनता-नवीनता तय कर लेंगे। यही वजह है कि वह एक बनी-बनायी पंक्ति छात्रों के मुंह में ठूँस देता है- ''हिन्दू धर्म पुराना धर्म है।'' वह इस स्थापना को स्वीकार नहीं करता है कि पाठ की रचना में ऐसी संभावना होनी चाहिए जिससे कि छात्र निर्णय लेने की प्रक्रिया से स्वयं गुजरें । दूसरी अवहेलना यह है कि पाठ धर्मों का विवरण बगैर किसी सामाजिक व आर्थिक, वैचारिक व धार्मिक पृष्ठभूमि के प्रस्तुत करता है। धर्मों का ऐसा विवरण छात्रों में यह समझ विकसित ही नहीं करेगा कि कोई भी सामाजिक परिघटना शून्य में न जनम कर एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही आकार पाती है।

पुस्तक विभिन्न धर्मों की चर्चा इतनी अर्थहीनता से करती है कि इससे छात्रों में धर्मों की समझ बनने की कोई संभावना नहीं रह जाती। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म को ही लें। इस पाठ में बौद्ध धर्म के बारे में जो कुछ भी कहा गया है उसमें एकाध पंक्ति भी ऐसी नहीं पा सकते जिससे इस धर्म की विलक्षणता, इसके मानवीय अवदानों तथा सामाजिक जड़ताओं के विरुद्ध इसकी ओजस्विता एवं क्रान्तिकारिता का कुछ आभास मात्र भी मिल सके। इस धर्म के संबंध में एक जगह पर कहा गया है कि संघ में अथवा बौद्ध धार्मिक आचरण में किसी भी जाति एवं पेशे के लोग शामिल हो सकते थे। संघ में महिलाओं को भी शामिल होने की इजाजत थी। इसमें कोई शक नहीं है कि बौद्ध धर्म के इस हस्तक्षेप ने सामाजिक रूढ़िवादिता एवं जड़ता को एक हद तक तोड़ा और उसे गतिशीलता प्रदान की । इस लिहाज से बौद्ध धर्म की यह भूमिका ऐतिहासिक भी थी और क्रान्तिकारी भी। निश्चित रूप से समता एवं सामाजिक न्याय के लिए संवैधानिक रूप से प्रतिबद्ध राष्ट्र के विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि वह इस क्रान्तिकारिता के ताप को महसूस करें । ऐसे समय में इस बात की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है जब जाति में बरकरार रहते हुए जातिगत नियतिवाद एवं क्रूरता से छुटकारे की नाउम्मीदी में समाज के दलित बौद्ध धर्म सहित अन्य धर्म अपना रहे हैं। पर इस बात की शिक्षणशास्त्रीय संभावना तभी हो सकती थी जब ब्राह्मण धर्म की जातिगत नियति एवं अमानवीयता के संदर्भ में बौद्ध धर्म की इस पहल को रखा जाता। पुस्तक उस समय इस शैक्षणिक संभावना को खत्म कर देती है जब वह ब्राहमण धर्म में व्याप्त जातिगत विभीषिका की चर्चा किए बगैर ही बौद्ध धर्म द्वारा जाति एवं लिंगगत भेदभाव को अमान्य करने की चर्चा करती है। इस पूरे संदर्भ को छिपाकर पुस्तक बौद्ध धर्म की ऐतिहासिक क्रान्तिकारिता को महज एक पंक्ति की बेलौस सूचना में तब्दील कर देती है। ध्यातव्य है कि बौद्ध धर्म ने निचली जाति के लोगों एवं महिलाओं को बौद्ध धर्म अपनाने का समतामूलक अवसर उस समय दिया था जब ब्राह्मण धर्म में वेदपाठ एवं अन्य धार्मिक क्रियाकलापों में शिरकत करने की उन्हें मनाही थी। बौद्ध धर्म की चर्चा करते हुए इस बात की संभावना नष्ट कर दी गई है कि बुद्ध ने आखिर उस समय के विद्वानों की भाषा संस्कृत को छोड़कर मागधी भाषा क्यूं अपनायी। बौद्ध धर्म में किसी भी जाति एवं लिंग के व्यक्ति को शामिल करने की प्रक्रिया ने शिक्षा के वर्गीय चरित्र पर क्या असर डाला। इन दोनों ही सवालों पर एक भी पंक्ति की चर्चा न देकर पुस्तक उस शैक्षणिक संभावना को नष्ट कर देती है जिसमें छात्रों को बौद्ध धर्म की प्रगतिशीलता से वाकिफ करवाया जा सकता है।

बुद्ध के बारे में यह सर्वविदित तथ्य है कि बुद्ध ने उस भाषा को अपनाया जो उस समय में पूर्वोत्तर भारत के आम लोगों द्वारा बोली जाती थी। उन्होंने मागधी और बाद में पालि का इस्तेमाल किया। विद्वानों की भाषा संस्कृत को छोड़कर बुद्ध लोगों से आम बोलचाल की भाषा में बात इसलिए करते थे क्योंकि वे कुछ खास लोगों को नहीं बल्कि सभी लोगों को शिक्षा देना चाहते थे। वे सभी को शिक्षा इसलिए भी देना चाहते थे क्योंकि उन्होंने संसार को करुणा की आंखों से देखा और मुक्ति चाही । भाषा संबंधी बुद्ध का यह आचरण इसलिए भी प्रासंगिक है क्योंकि अभिजात्य भाषा, आम भाषा व बोली के साथ ज्ञान का रिश्ता एवं ज्ञान तक आम लोगों की पहुंच का सवाल आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना की उस समय था।

धर्म पर लिखे गये इस पूरे अध्याय में (अध्याय 5) कहीं पर भी यह चर्चा नहीं की गई है कि नए धर्म के उदय ने पहले से मौजूद धर्म के किसी पक्ष और सामाजिक रूढ़ियों से टकराहट ली एवं उसे चुनौती दी। यह कहीं पर भी यह नहीं दर्शाता कि विभिन्न धर्मों ने समाज को गति देने में कोई प्रगतिशील भूमिका निभाई । बौद्ध एवं जैन धर्म की यह विशेषता किसी से छुपी हुई नहीं है कि दोनों ही धर्मों ने उस समय की वर्ण-व्यवस्था पर प्रत्यक्ष प्रहार नहीं करते हुए भी अपने-अपने तरीकों से इसका प्रतिकार किया। इसलिए प्रतिष्ठित इतिहासकार रोमिला थापर इन्हें वर्ण-निरपेक्ष आन्दोलन के रूप में उल्लिखित करती हैं। दोनों ही धर्मों ने समाज के निम्न वर्ण वाले लोगों को वह खुलापन दिया जिससे उन्हें वर्ग निरपेक्ष सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर अपने वर्ण से उबरने का अवसर मिल गया । यह

भी सच है कि ब्राह्मण पूजा के मुकाबले इन मतों में पूजा-पाठ के लिए धन का खर्च नहीं करना होता था, इसलिए भी समाज के उत्पीडित वर्ग इनकी ओर आकर्षित हुए। रोमिला थाापर इनके ऐतिहासिक योगदान की चर्चा करते हुए लिखती हैं कि इन दोनों मतों का नागरिक केन्द्रों तथा अधिकतर समाज के निम्न वर्गों से जिस प्रकार का सम्पर्क रहा उसकी आवृत्ति बाद की शताब्दियों में भक्ति आन्दोलनों के विभिन्न रूपों में हुई । उल्लेखनीय है कि बौद्ध मत ने ब्राह्मण विचारधारा की तरह कर्म के सिद्धांत का उपयोग इसलिए नहीं किया कि उससे कहीं जातिगत स्थिति का औचित्य स्थापित न हो जाये। कारण साफ है बुद्ध जातिवाद को नहीं मानते थे। बौद्ध-विहारों ने सामाजिक गतिशीलता में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनके निर्माण से शिक्षा का प्रसार बढ़ा। चूंकि समाज के हर वर्ग के स्त्री पुरूषों के भिक्षुणी एवं भिक्षु बनने का अवसर था इस कारण शिक्षा केवल उच्चस्थ लोगों तक ही सिमटी नहीं रह सकी। इस लिहाज से बौद्ध मत का बड़ा भारी ऐतिहासिक योगदान माना जाता रहा है, पर इन तमाम योगदानों पर पाठ्यपुस्तकों द्वारा बरती जाने वाली चुप्पी का खुलासा करने में एक सवाल हमारी मदद कर सकता है।

सवाल यह है कि स्कूली इतिहास की पुनर्रचना के पीछे का सरोकार क्या है? वह समाज के बारे में क्या दर्शन रखता है? अगर उसके सामने समतामूलक सामाजिक परिवर्तन की प्रतिबद्धता है तो वह निश्चित रूप से उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं तथा परिघटनाओं का चयन करेगा जिसमें सामाजिक रुढ़िवादिता तथा असमानता के विरुद्ध संघर्ष एवं विरोध के साथ-साथ ऐसी स्थितियों में बदलाव लाने की अनुगूंज सुनाई पड़ती है। और अगर स्कूली इतिहास की पुनर्रचना के पीछे समाज का यथास्थितिवादी नजरिया काम कर रहा है तो वह स्वाभाविक रूप से ऐसी सभी प्रक्रियाओं तथा परिघटनाओं पर खामोशी बरत लेगा। बौद्ध धर्म के क्रान्तिकारी ऐतिहासिक योगदान को उसके ऐतिहासिक संदर्भों से काटकर, इतिहास की नई पाठ्यपुस्तकों ने सामाजिक विषमता एवं रुढ़िवादिता पर सवाल खड़े करने वाली ऐतिहासिक परिघटनाओं एवं प्रक्रियाओं को या तो अपने चयन क्षेत्र के बाहर करके या फिर उन्हें संदर्भहीन बनाकर बेअसर करते हुए यह साबित कर दिया है कि उनका संदर्भ बिन्दु सामाजिक परिवर्तन न होकर यथास्थितिवाद है।

इतिहास अतीत की व्याख्या–पुनर्व्याख्या एवं रचना–पुनर्रचना करने वाला अनुशासन है जिसकी अपनी पद्धतिमूलक विशिष्टता है। पर इतिहास का बदला हुआ पाठ्यक्रम (नया) पुराने पाठ्यक्रम में दिए गए इतिहास के इन मूलभूत सरोकारों को अपने पाठ्यक्रम में शामिल नहीं करता । इसका शिक्षणशास्त्रीय निहितार्थ यह है कि वर्तमान पाठ्यक्रम (नया) यह मानकर नहीं चलता है कि इतिहास संबंधी ज्ञान, शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के आपसी संवाद के आधार पर सामूहिक तौर पर गढ़ा जाता है। मतलब यह कि वह इतिहास अध्ययन–अध्यापन के क्रम में शिक्षकों एवं विद्यार्थियों की सृजनात्मकता एवं वैयक्तिकता के लिए कोई जगह नहीं देखता।

विभिन्न धर्मो के आपसी संबंध को लेकर भी पाठ्यपुस्तकों का रवैया अनुशासन विरोधी है। उदाहरण के लिए पाठ्यपुस्तक में दी गई बौद्ध एवं जैन धर्म की प्रस्तुति को देखा जा सकता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि बौद्ध एव जैन मतों ने अपने समय के स्थापित हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता का विरोध किया, वेदों की सत्ता को स्वीकृति नहीं दी और पशुबलि प्रथा का बहिष्कार किया । दार्शनिक स्तर पर भी जैन एवं बौद्ध धर्म ने तात्कालिक दर्शन की कई स्थापनाओं पर मौलिक सवाल खड़े किए। बौद्ध धर्म ने शाश्वतता की जगह अस्थायित्व एवं सतत परिवर्तनशीलता का सिद्धांत दिया। जैन धर्म ने भारतीय दर्शन के इतिहास-सत्य के सापेक्षिकतावाद का सिद्धांत दिया । इस प्रकार इन धर्मों ने उस समय के हिन्दू धर्म की कई दार्शनिक स्थापनाओं को चुनौती दी । स्थापित ब्राह्मण धर्म से अलग हटकर दार्शनिक स्थापनाओं के क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिघटना साबित हुई । लेकिन विडम्बना है कि पुस्तक धर्मों की आपसी भिन्नताओं तथा विशिष्टताओं की कोई चर्चा नहीं करती। वह ऐसा कोई अवसर नहीं बनाती जिससे यह पता चल सके कि अमुक धर्म ने अमुक धर्म की स्थापनाओं को अस्वीकार किया एवं उसे चुनौती दी। इस तरह यह पुस्तक धर्मों की अति सरलीकृत एवं सतही समझ ही छात्रों के समक्ष परोसेगी। ऐसे ज्ञान से गुजरने वाले व्यक्ति से यह उम्मीद कैसे की जा सकती है कि वह धर्मों की भिन्नताओं एवं आपसी सहमतियों-असहमतियों और टकराहटों के बीच रहते हुए जीए । सभी धर्मों में कुछ समान तत्व देखने की आग्रही पुस्तक धर्मों की समाजशास्त्रीय मीमांसा प्रस्तुत नहीं करती, बल्कि वह विभिन्न धर्मों में मोटे तौर पर पाई जाने वाली कुछ समान-सी बातों के आधार पर धर्म की तत्ववादी व्याख्या ही पेश करती है। ऐसी तात्विक विवेचना छात्रों में वह रुझान पैदा करने में सहायक नहीं होगी, जिससे वे धर्मों की आलोचनात्मक समझ बना सकें, धर्मों की आपसी भिन्नताओं

और टकराहटों को ज्ञानशास्त्रीय नजर से देख सकें और इसे भिन्न धर्मावलम्बियों के बीच अलगाव का आधार न बनने दें। पुस्तक इस अवधारणा को मान्यता देती हुई नहीं दिख रही है कि भिन्नताओं की इज्जत करते हुए रहा जा सकता है। सवाल यह है कि भिन्नताओं के प्रति इस तरह के भगोड़ेपन के आधार पर विद्यार्थियों से यह उम्मीद कैसे की जा सकती है कि वह भारत की बहुधार्मिकता के प्रति उचित एवं समझ आधारित आदर रखेगा।

पुस्तक केवल वर्णित धर्मों की विलक्षणता, उसके ऐतिहासिक अवदानों एवं क्रान्तिकारिता का ही तुच्छीकरण नहीं करती, बल्कि वह धर्मों की अपनी विशिष्ट पहचान एवं उसके उदय की पृष्ठभूमि को भी बिगाड कर पेश करती है । उदाहरण के लिए पुस्तक में एक जगह पर लिखा है कि हिन्दूइज्म की उपनिषदिक और छः दार्शनिक धाराओं का अनुसरण करते हुए, ज्ञान के जरिए मोक्ष की तलाश जारी रही। इसने जैन एवं बौद्ध धर्म को उत्थान दिया । (पृ. 135)। ध्यान देने की बात है कि पुस्तक बौद्ध धर्म के उत्थान एवं उसके प्रचार-प्रसार तथा ब्राह्मण धर्म की रूढ़ प्रथाओं एवं जातिगत जड़ता की जगह बुद्ध धर्म द्वारा सभी जातियों के प्रति अपनाए जाने वाले समतावादी बर्ताव की भूमिका प्रस्तुत नही करती। इसके लिए वह कर्मकाण्ड एवं आडम्बर रहित बौद्ध धर्म के धार्मिक आचरण को भी श्रेय नहीं देती । वह यह नहीं स्वीकारती कि धार्मिक संवाद के क्रम में अभिजात्यों की भाषा संस्कृत को छोड़कर बुद्ध ने जो मागधी एवं बाद में पालि भाषा को अपनाया उसने धर्म को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई । इन सबकी जगह पुस्तक के अनुसार बौद्ध धर्म के उत्थान में हिंदू धर्म एक सार्वकालिक तथा देशव्यापी प्रसार वाली परिघटना है। पुस्तक सहिष्णुता जैसी विशेषता को केवल हिन्दू धर्म के खाते में डाल देती है। इसमें केवल हिन्दू धर्म के बारे में लिखा गया है कि इसका प्रचलन अति प्राचीन है। पुस्तक जैन एवं ईसाई धर्म में ही धर्मगत विभाजन दिखलाती है। हिन्दू धर्म में ऐसा संभवतः इसलिए नहीं दिखलाया गया है ताकि हिन्दू धर्म की सामंजस्यपूर्ण तस्वीर परोसी जा सके। हिन्दू धर्म की सातत्यता एवं अपरिवर्तनीयता को जबरन दिखाने के चक्कर में पुस्तक बौद्ध एवं जैन धर्म को भी ब्राह्मण धर्म की ही कड़ी में ला खड़ा करता है। जबकि इन दोनों ही मतों ने ब्राह्मण धर्म की कई स्थापनाओं पर बुनियादी सवाल खड़े किए हैं । इसे बौद्ध एवं जैन धर्म की अपनी पहचान को खत्म करके उसे हिन्दू धर्म की एक उपधारा बनाकर छोड़ देने के प्रयत्न के रूप में देखा जा सकता है।

इतिहासकार के. एम. श्रीमाली का कहना है कि जब पुस्तक बौद्ध एवं जैन धर्म के उत्थान में उपनिषदों की भूमिका सिद्ध करती है तो वह यह अवधारणा भी स्थापित करती है कि सभी उपनिषद, बुद्ध-पूर्व एवं जैन पूर्व हैं, जबकि यह ऐतिहासिक रूप से असत्य है। पुस्तक का यह आचरण संभवतः इसलिए है क्योंकि खास विचारधारा से ग्रस्त यह पुस्तक नहीं चाहती है कि दो ताकतवर धर्म, हिन्दू धर्म से टकराते हुए उसकी कई दार्शनिक स्थापनाओं के साथ-साथ उसके कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज एवं धार्मिक आचरण पर सवाल खड़े करते हुए नजर आएं। उसे यह गवारा नहीं है कि बौद्ध एवं जैनमत की चर्चा के क्रम में विद्यार्थी यह जानें कि इन्होंने ब्राह्मण धर्म की कई रूचियों एवं पाखण्डों पर चोट की है। निहितार्थ यह है कि पुस्तक चाहती है कि विद्यार्थी धर्म के संबंध में श्रद्धालु रहें। धर्मों के संबंध में उनमें आलोचनात्मक एवं इतिहासमूलक चेतना का विकास न हो। पुस्तक लिखने के पीछे की विचारधारा संभवतः जानती है कि ऐसी चेतना का विकास होने पर विद्यार्थी धर्म एवं उसकी भूमिका को प्रश्न के घेरे से बाहर रखने वाली चीज नहीं मानें। वे यह स्वीकारने के लिए तैयार नहीं होंगे कि धर्म ने सदा प्रगतिशील भूमिका निभाई है। संभवतः वे अपने धर्म को भी आलोचनात्मक दायरे में रखें और दूसरे धर्मों की रचनात्मक भूमिका के प्रति भी सकारात्मक रुख पालें। इसलिए पुस्तक उन चर्चाओं पर जाती ही नहीं जो ब्राह्मण धर्म पर कहीं से कोई प्रश्न उपजाने की संभावना पैदा करती हो।

पुस्तक न सिर्फ ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन धर्म को उसके ऐतिहासिक संदर्भों से काटकर उन्हें महज कुछ बेमानी सूचनाओं में तब्दील करती है बल्कि वह ईसाई, जूडाइज्म, जोरोआस्ट्रीय निज्म धर्म के साथ भी यही बर्ताव करती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पुस्तक विद्यार्थी को महज सूचना एकत्रित करने वाला निष्क्रिय व्यक्ति मानकर चलती है जिसमें विद्यार्थी शिक्षकों एवं पाठ्यपुस्तक द्वारा दी जाने वाली जानकारी को कण्ठस्थ करेगा और परीक्षा में उसका वमन करेगा। इस बात की पुष्टि पाठ के अंत में दिए गए अभ्यास प्रश्नों एवं सुझाई गई गतिविधियों से भी होती है। प्रश्नोत्तर के लिए दिए गए बारह प्रश्न विद्यार्थियों से केवल कौन और क्या जैसे सवाल करते हैं। कैसे एवं क्यों जैसी शब्दावली अभ्यास प्रश्न में अपवाद स्वरूप भी नहीं है। खाली स्थलों को भरने वाले अभ्यास भी एकाध शब्दों की सपाट सूचनाएं मांगने वाले हैं। पाठ के अंत में सुझाई गई गतिविधि में कहा गया है कि विद्यार्थी विभिन्न तस्वीरें इक्कठी करें । इस प्रकार पूरा का पूरा अभ्यास यह बतलाता है कि पुस्तक का मानस स्मृति-आधारित शिक्षा देने का है, चिन्तनपरक, सृजनात्मक शिक्षा से उसका दूर का भी वास्ता नहीं है। यह हाल केवल पुस्तक के एक पाठ का नहीं है, बल्कि पूरी पुस्तक का है।

समाजविज्ञान की यह नई पाठ्यपुस्तक ज्ञान की जगह सूचनाओं का ऐसा संसार खड़ा कर देती है जिनसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह विद्यार्थियों में सृजनात्मकता, चिन्तनशीलता, प्रश्नाकुलता को बचाए रखेगी और उसमें इतिहास सम्मत एवं समाजशास्त्रीय नजरिए के साथ-साथ यह विश्वास भी जगाएगी कि वे ज्ञान के सक्रिय सृजनकर्ता हैं।

यही वजह है कि इतिहास की नई पाठ्यपुस्तक जब प्राचीन भारत का जिक्र करती है तो वहां प्राचीन भारत के केवल धर्म संबंधी साहित्यिक स्रोत का ही जिक्र मिलता है। किताब देश के बाहर फैले स्रोतों को भी नजरअंदाज करके चलती है। यानी पुस्तक अपने विद्यार्थियों को उस प्रक्रिया से वाकिफ करवाना जरूरी नहीं समझती जिस प्रक्रिया से गुजरकर इतिहास का ज्ञान बनता है। पाठ्यपुस्तकें यह गैर जरूरी मानती हैं कि विद्यार्थी पाठ्यपुस्तकों को इतिहास के स्रोत एवं इतिहास की अपनी पद्धतियों की पहचान करवाने में सहयोगी समझें बल्कि इसकी जगह ये एक रटन्त सूचना पैकेज बनकर रह जाती है।

समाजविज्ञान के पुराने पाठ्यक्रम से नए पाठ्यक्रम का मिलान करने पर यह साफ हो जाता है कि पाठ्यपुस्तकों की यह दुर्दशा महज संयोग, असावधानी तथा गैरजानकारी का ही परिणाम नहीं है, बल्कि नया पाठ्यक्रम सैद्धांतिक तौर पर ही इस बात को मान्यता नहीं देता कि छात्र, समाजविज्ञान को समाजशास्त्रीय पद्धति से पढ़ सकें। इतिहास विषय के पुराने पाठ्यक्रम (कक्षा छः) का, विषय प्रवेश बिन्दु ही है कि हम अतीत के बारे में कैसे और क्यों जाने? अतीत की पुनर्रचना के स्रोत क्या हैं? भारतीय इतिहास के स्रोत क्या हैं ? वर्तमान को समझने के लिए अतीत के अध्ययन का महत्व क्या है? पर इतिहास का बदला हुआ पाठ्यक्रम, शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण इन बिन्दुओं को गैर-जरूरी मानकर इन्हें अपने नए पाठ्यक्रम से निकाल बाहर करता है। नया पाठ्यक्रम (कक्षा छः, प्राचीन भारत) विषय में प्रवेश इस तरह कराता है - 'अतीत का अध्ययन-स्रोत एवं प्रमाण,' 'दुनिया को भारत का योगदान'। इतिहास का पुराना पाठ्यक्रम जिस प्रकार से विषय में प्रवेश करवाता है उसमें विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे, इतिहास क्या है, इसकी उपयोगिता क्या है, जैसे सवालों से रू-ब-रू हों।

इतिहास का पुराना पाठ्यक्रम, कम से कम सैद्धान्तिक तौर पर तो विद्यार्थियों से यह आकांक्षा रखता है कि वे इतिहास को इस तरह पढ़ें जिसमें इतिहास एक किस्सा बनकर न रह जाए। बल्कि वह एक ऐसा अनुशासन बनकर उभरे जो समाज के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य को समझने का एक पद्धति मूलक नजरिया देता हो। पुराना पाठ्यक्रम विषय प्रवेश में ही अतीत की पुनर्रचना का जिक्र करके यह साफ करता है कि इतिहास एक नहीं, बल्कि अनेक हो सकते हैं जैसे कि पढ़े भी जा रहे हैं, मसलन-दलित, निम्नजन, एवं महिला आदि दृष्टिकोणों से पढ़े जाने वाले इतिहास। वह यह साफ करता है कि इतिहास उपलब्ध स्रोतों, तथ्यों तथा प्रमाणों की कोई तयशुदा व्याख्या अथवा विश्लेषण करने वाला अनुशासन नहीं है। बल्कि इतिहास अतीत की व्याख्या- पुनर्व्याख्या एवं रचना-पुनर्रचना करने वाला अनुशासन है जिसकी अपनी पद्धतिमूलक विशिष्टता है। पर इतिहास का बदला हुआ पाठ्यक्रम (नया) पुराने पाठ्यक्रम में दिए गए इतिहास के इन मूलभूत सरोकारों को अपने पाठ्यक्रम में शामिल नहीं करता । इसका शिक्षणशास्त्रीय निहितार्थ यह है कि वर्तमान पाठ्यक्रम (नया) यह मानकर नहीं चलता है कि इतिहास संबंधी ज्ञान, शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के आपसी संवाद के आधार पर सामूहिक तौर पर गढ़ा जाता है। मतलब यह कि वह इतिहास अध्ययन-अध्यापन के क्रम में शिक्षकों एवं विद्यार्थियों की सृजनात्मकता एवं वैयक्तिकता के लिए कोई जगह नहीं देखता। वह इतिहास की इस मूलभूत अवधारणा को मान्यता नहीं देता कि जैसे-जैसे हमारे परिप्रेक्ष्य में बदलाव आता है वैसे-वैसे हम अतीत को नए नजरिये से देखते हैं । उस पर ऐसे सवाल दागते हैं जिसे विश्लेषण के पुराने ढांचे में रहते हुए गढ़ा नहीं जा सकता । इन्हीं प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ इतिहास एक ऐसा रचनात्मक कर्म बनाता है जिसके जरिए इतिहास की पुनर्रचना की बात सोची जा सकती है । इसको पाठ्यक्रम से बाहर निकालना इस मानस का संकेत देता है कि वह इतिहास सम्मत विमर्श को ज्ञान की एक निरंतर विकासमान शाखा के रूप में नहीं देखता । इसलिए इतिहास की नई पाठ्यपुस्तक जब बालकेन्द्रित शिक्षण की अवधारणा को नकारती है और स्मृति आधारित इतिहास-शिक्षण को बढ़ावा देती है तो इसे महज संयोग, लापरवाही, मानवीय भूल या समझ के अभाव का परिणाम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि नए पाठ्यक्रम में इतिहास इसी रूप में परिकल्पित है। ऐसी संकीर्ण परिकल्पना, निश्चित तौर पर ज्ञान की निरंतर विकासमान शाखा के रूप में इतिहास को क्षतिग्रस्त करेगी। इतिहास के प्रति पाठ्यक्रम का यह उपागम स्कूली ज्ञान में ढलकर विद्यार्थियों को इतिहास की आत्मा से भटकाकर दूर ले जाने वाला है। इस प्रकार नया पाठ्यक्रम इतिहास को दोहरे तरीके से पथभ्रष्ट करता है- पहला एक अनुशासन के रूप में स्वयं इतिहास को और दूसरा विद्यार्थियों की इतिहास संबंधी चेतना को।

वर्षों पहले प्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच.कार ने कहा था कि इतिहास, अतीत के साथ वर्तमान का सतत परिवर्तनशील संवाद होता है। इस प्रकार इतिहास लगातार पुनर्रचित होने वाली ज्ञान की

एक शाखा है। पर सवाल यह है कि इतिहास की पुनर्रचना कैसे की जा रही है। क्या वह अन्यान्य प्रमाणों तथा तथ्यों की खोज की ओर बढ़ाती है या फिर प्रमाणों एवं तथ्यों को दबाती है। खासकर ऐसे तथ्यों को जो सरलीकृत, एकरेखीय और सर्वमान्य ढर्रे से लिखे गये इतिहास को अन्तर्विरोधी एवं समस्यात्मक बनाते हैं। उन्हें ऐसे प्रश्नों से घेरते हैं जो इतिहास के विश्लेषण को गैर-बहस का मुद्दा नहीं रहने देते हैं। इतिहास की पुनर्रचना का सवाल इस बात से जरूरी तौर पर जुड़ा हुआ है कि यह इतिहाससम्मत ज्ञान के नित नए क्षितिज खोलता है अथवा इतिहास के विकसने के रास्तों को बंद करता है। निश्चित तौर पर पहली वाली स्थिति विद्यार्थियों को ज्ञान की एक शाखा के रूप में इतिहास का नजरिया देकर उन्हें सशक्त करती है। वहीं दूसरी स्थिति में छात्र ज्ञान की एक निरंतर विकासमान शाखा से वंचित किए जाते हैं और इतिहास की संकीर्ण परिभाषा पाकर उनका बौद्धिक विकास भी बाधित होता है। इस लिहाज से नई पाठ्यपुस्तकों का आकलन बतलाता है कि इनमें वह संभावना नहीं है जिससे विद्यार्थियों के सामने इतिहास के नये क्षितिज खुल सकें। बल्कि इतिहास की संकीर्ण, सरलीकृत, एकरेखीय, स्थिर, ध्रुवीकृत तथा कई तरह की पारंपरिक छवि आधारित व्याख्या करने के कारण ये पाठ्यपुस्तकें छात्र विरोधी भी हैं और एक अनुशासन के रूप में इतिहास की पुनर्रचना के सैद्धांतिक आधार को बुरी तरह क्षतिग्रस्त करने वाली भी।

समाजविज्ञान का नया पाठ्यक्रम (कक्षा छह से लेकर दस तक) जिस एक शिक्षणशास्त्र की धुरी पर टिका है वह शिक्षणशास्त्र का व्यवहारवादी उपागम है। यही वजह है कि इन पाठ्यक्रमों में अध्येय विषयवस्तु से ज्यादा बड़ी सूची 'लर्निंग आउटकम' (सीखने की उपलब्धियां) की है। अध्येय विषयवस्तु के अगर सात बिन्दु हैं तो उससे प्राप्त किए जाने वाले लर्निंग आउटकम्स की संख्या 12 है। ध्यातव्य है कि शिक्षणशास्त्र का विमर्श आज व्यवहारवादी उपागम से काफी दूर निकल आया है। आज यह माना जाता है कि व्यक्ति एवं शिक्षक का संवाद, अपने तरह से ज्ञान का निर्माण करता है। इसमें आवश्यक नहीं है कि समाज विज्ञान के अध्ययन-अध्यापन के क्रम में सभी बच्चे एक तरह के तयशुदा निष्कर्ष या व्याख्या पर पहुंचें। उनके भिन्न-भिन्न लर्निंग आउटकम हो सकते हैं। व्यवहारवादी उपागम के ढर्रे पर चलते हुए इसका पूर्वानुमान लगाना मुश्किल है। इसके पीछे का आधार यह है कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में मानवीय चेतना, विवेक, अनुभव, कल्पनाशीलता एवं सृजनात्मकता की इतनी यांत्रिक व्याख्या नहीं की जा सकती है। पर समाजविज्ञान का नया पाठ्यक्रम एवं उसकी नई पाठ्यपुस्तकें समाज विज्ञान को इतना वस्तुनिष्ठ एवं यांत्रिक बनाने पर आमादा नजर आती हैं कि इस क्रम में वे शिक्षकों एवं विद्यार्थियों को मानवीय चेतना से लैस एक सृजनात्मक एवं कल्पनाशील प्राणी मानने से भी इंकार करते हुए दिखती हैं। ◆